"तान्त्रिक योग" : स्वरूप एवं मीमांसा

□ डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, आचार्य, एम. ए. पी-एच. डी, डी. लिट्. साहित्यालङ्कार

तन्त्र—शब्दार्थ और परिभाषा

'तन्त्र' शब्द के शास्त्रकारों ने अनेक अर्थ किये हैं, जिनमें मुख्यतः 'सिद्धान्त, शासन-प्रबन्ध, व्यवहार, नियम, वेदशाखा, शिव-शक्ति आदि देव-देवियों का पूजा-विधायक शास्त्र, आगम, कर्मकाण्ड, पद्धति और विविध उद्देश्यों के पूरक उपाय, आदि कोश-सम्मत हैं। जैसा कि '**मेदिनीकोश**' में कहा गया है:—

तन्त्रं कुटुम्बकृत्ये च सिद्धान्ते चौषधोत्तमे।
प्रधाने तन्तूद्भवे च शास्त्रभेदे परिच्छदे॥
श्रुति-शाखान्तरे हेतावुभयार्थ-प्रयोजने।
इति कर्तव्यतायां च......................॥ इत्यादि।

'**वाचस्पत्य-कोश**' ने और भी कुछ अन्य अर्थ दिये हैं। जिनमें व्युत्पत्ति की दृष्टि से '१. तननं तन्त्रम्, २. तन्यतेऽनेनेति तन्त्रम्, ३. तन्त्रणं तन्त्रम्, ४. तनोति त्रायते चेति तन्त्रम्' इन व्युत्पत्तियों में विस्तार, धारण और पालनार्थक तनु, तन्त्रि और तन्-त्रैङ धातुओं का प्रयोग हुआ है। इन्हीं सब अर्थों को लक्ष्य में रखकर परिभाषा की गई है कि—

सर्वेऽर्था येन तन्यन्ते त्रायन्ते च भयाज्जनाः।
इति तन्त्रस्य तन्त्रत्वं तन्त्रज्ञाः परिचक्षते॥

और इसके अनुसार 'सभी अनुष्ठानों का विस्तार-पूर्वक ज्ञान तथा उनके प्रयोगों से सम्पादित कर्मों के द्वारा संरक्षण की प्राप्ति' यह अर्थ उपलब्ध होता है। '**कामिकागम**' में भी इसी अर्थ की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमात्र-समन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

इस प्रकार अनेक अर्थतत्त्वों से गर्भित तन्त्र-शब्द 'कर्मों के युगपद्-भाव—(कर्मणो-युगपद्भावस्तन्त्रम् (१।७।१) कात्यायन श्रौतसूत्र) के रूप में व्यवहृत होता आया है।

तन्त्र के प्रकार और योग

'इष्टदेव अथवा देवी की उपासना में उपयोगी, साधकों के द्वारा अनुष्ठेय सभी अनुष्ठानों का विधान ही तन्त्र है, इस दृष्टि से तन्त्र के दो प्रकार हो जाते हैं—१. ज्ञान और २. विज्ञान। इन दोनों के आधार पर पृथक्-पृथक् व्यवस्था होने से 'तान्त्रिक ज्ञान' और 'तान्त्रिक-विज्ञान' के रूप में तन्त्र-सम्बन्धी प्रक्रियाओं का पर्याप्त विकास हुआ है। इसी प्रकार 'योग' शब्द भी अपने आप में अनेकविध अर्थों को समाये हुए है,[1] और विभिन्न आचार्यों

---

१. "संयोग, उपाय, ध्यान, संगति, प्रेम, छल, प्रयोग, औषधि, धन, लाभ, कौशल, परिणाम, नियम, उपयुक्तता, उपायचतुष्टय—साम, दाम, दण्ड और भेद, सम्बन्ध, सद्भाव, शुभफल, वैराग्य, सुयोग, मोक्षोपाय, समाधि, चित्त को एकाग्र करने की प्रक्रिया तथा यन्त्र, मन्त्र, तन्त्रादि से साध्य क्रिया" ये और ऐसे ही कुछ अन्य अर्थ कोशग्रन्थों में मिलते हैं।

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

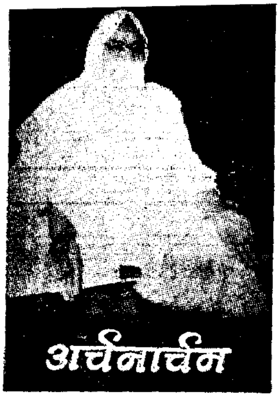

ने अपनी-अपनी दृष्टि से भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ भी दी हैं। तथापि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस पातञ्जल-योगसूत्र पर ही हमारा ध्यान जाता है और वस्तुतः इस परिभाषा के अनुसार चित्तवृत्ति का निरोध और तदर्थ किये जाने वाले साधनों का नाम 'योग' समझा जाता है।

यौगिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में आचार्यों ने बड़े ही विस्तार से विवेचन किया है और योग के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का निरूपण भी पर्याप्त विस्तृत प्राप्त होता है। 'राजयोग, हठयोग मन्त्रयोग और लययोग' के नाम से चार विभागों में विभक्त यौगिक क्रियाओं के विस्तार के साथ ही कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि अनेक योगों का सांगोपांग विवेचन भी ग्रन्थों में किया गया है। व्याकरण की दृष्टि से युज् धातु के अर्थ—१. जोड़ना = संयोजित करना और २.समाधि = मन की स्थिरता हैं। प्रायः सभी चिन्तकों ने इन दोनों अर्थों को आधार बनाकर 'योग' का सम्बन्ध जोड़ने के लिये अपनी-अपनी परिभाषाएँ दी हैं जिनमें धर्मव्यापार, आध्यात्मिक भावना, समता-विकास, मनोविकारक्षय, मन-वचन-कर्म-संयम, आत्म-विशुद्धि आदि के लिए की जाने वाली साधना के द्वारा आत्मा को मोक्ष के साथ संयोजित करने का भाव समाविष्ट है[1]। जैन और बौद्ध सम्प्रदाय में भी ऐसी ही भावना को अभिव्यक्ति देने वाले कर्मविशेष को योग कहा है किन्तु उन्होंने अपने-अपने कतिपय पारिभाषिक शब्द भी इसके निमित्त निर्धारित कर लिये हैं, जो उनके आगमों और पिटकों की परिधि में प्रविष्ट प्रक्रियाओं के परिशीलन के साथ ही साम्प्रदायिक साधनातत्त्वों को भी परिलक्षित करते हैं।

योग-परम्परा में 'ज्ञान और क्रिया' का अनूठा समन्वय रहता है। ये दोनों जब बाह्यभाव से अनुष्ठित होते हैं तो इनके द्वारा उत्तम स्वास्थ्य, आन्तरिक उल्लास, शरीरावयवों की समुचित सुदृढता एवं कार्यक्षमता, रोगनिवृत्ति, द्वन्द्वसहिष्णुता आदि गुण विकसित होते हैं, जो कि व्यवस्थित आन्तरिक-साधना के लिए भी नितान्त आवश्यक होते हैं। जब अन्तर्भाव से योगानुष्ठान किया जाता है तो उसमें भी ज्ञान के साथ क्रियाएँ की जाती हैं, जिनमें अष्टांग और उनके विभिन्न भेदों से निर्दिष्ट अन्य अंगों का प्रबोधन-विधान भी किया जाता है। इस अनुष्ठान के द्वारा साधक शरीर के अन्तर्गत स्थूलचक्र, सूक्ष्मचक्र, प्रमुख नाडीतन्त्र, गुच्छरूप में स्थित नाडीसमूह तथा उनके क्रियाकारित्व के उन्मेष से प्रभावित होने वाली विधियों को न केवल योगमूलक अंगानुसाधन से ही समाध्युन्मुख बनाता है, अपितु बीजमन्त्र, नाममन्त्र एवं इष्टमन्त्रों से सिद्धि-शिखरासीन भी करता है।

---

१. प्रमाण के लिए निम्नलिखित मूलांश दर्शनीय हैं:—

(क) योग आत्मा (तैत्तिरीयोपनिषद् २।४), (ख) तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय-धारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ (कठोपनिषद् २।६।११)

(ग) अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष-शोकौ जहाति। (वही १।२।१२)

(घ) तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१३)

(ङ) तथा—तैत्ति० २।४, कठ० २।६।११, श्वेता० २।११; ६।३; १।१४, छान्दो० ७।६।१; ७।६।२; ७।७।१; ७।२६।१; कौशीतकि० ३।२; ३।३; ३।४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तान्त्रिक योग के अंग और उपांगों का ज्ञान

साधना के लिए शरीर और उसके अंग—अवयवों का ज्ञान अत्यावश्यक माना गया है। शारीरिक-रचना की स्थूलदृष्टि से विवेचना साधना-मार्ग में वैसे कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती है किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से शरीर के अन्तर्गत अवयवों का परिज्ञान किये बिना साधना अपूर्ण ही रहती है, यह एक शाश्वत सत्य है। उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए आद्यशङ्कराचार्य-प्रणीत '**यतिदण्डैश्वर्य-विधान**[1]' में स्पष्टतः कहा गया है कि:—

यतिदण्डे साधनाया ये ये मार्गाः प्रदर्शिताः।
तेषां सम्यक्-सिद्धिलब्ध्यै योगज्ञानमपेक्षितम् ॥३॥

और इसी प्रसङ्ग को पल्लवित करके समझाते हुए १- शरीरस्थ चक्र, २- नाडी, ३- वायु, ४- वायु के स्थान, वर्ण, कार्य, इन्द्रिय-परिवार ५- आधारादि चक्र, (कल्पानुसार), ६- चक्रों की अधिष्ठात्री देवियाँ, ७- चक्रों के सृष्टयादिक्रम, ८- चक्रों की देवियाँ, ९- नाड़ियों के द्वारा चक्रों के निर्माण की प्रक्रिया, १०- प्रमुख सोलह नाड़ियों के स्थान, ११- नाड़ियों की गति, १२- नाड़ियों के विभिन्न समूहों की स्थिति, आकार और उनसे निर्मित चक्रों के स्वरूप, १३- ग्रन्थिभेदन तथा १४- भिन्न-भिन्न चक्रों में जप का प्रकार और फल वर्णित किया है। वहीं एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि:—

जपाच्छ्रान्तः पुनर्ध्यायेद् ध्यानाच्छ्रान्तः पुनर्जपेत्।
जपध्यानादि-संयुक्तः क्षिप्रं मन्त्रः प्रसिद्ध्यति ॥३।१५४॥

यद्यपि योग के प्रकारों में यत्र-तत्र उपर्युक्त विषयों का भी वर्णन प्राप्त होता है, तथापि 'तान्त्रिक-योग' की यह प्रक्रिया जैसी उपर्युक्त ग्रन्थ में निर्दिष्ट है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ हैं। आचार्यपाद ने सम्पूर्ण-शरीर के स्वरूप का परिज्ञान कराते हुए नौ शरीरों का वर्णन किया है, जो कि क्रमशः मस्तिष्क में तीन, आँख और कान में एक-एक तथा हाथों और पैरों में दो-दो के रूप में स्थित हैं। समस्त नाडीजाल शक्ति के नामों से व्यवहृत है तथा उनके बीजमन्त्र, नाम-मन्त्र आदि से उस जाल के प्रत्येक अवयव को तान्त्रिक-योग से ही प्रबुद्ध कर अभिलषित कर्म में प्रयुक्त किया जा सकता है, यह रहस्य 'यतिदण्डैश्वर्य-विधान' से यत्किंचित् अंश में प्राप्त होता है।

इतना ही नहीं, योग में वर्णित विभूतियों का रहस्य भी इस ग्रन्थ में सजीव नाड़ियों के रूप में चित्रित है। साधक शरीरस्थ नाड़ी को प्रबुद्ध कर किसी भी विभूति को हस्तामलकवत् प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः यौगिक विभूतियों की उपलब्धि का गुरुगम मार्ग ही तन्त्रपथ है और वही "तान्त्रिक-योग" नाम से अभिप्रेत है। जिस लक्ष्य की उपलब्धि के लिए योगमार्ग कठोर साधना का निर्देश करता है उसी लक्ष्य की उपलब्धि तन्त्रविधि द्वारा सहज और सरलरूप से प्राप्त की जा सकती है। साथ ही तन्त्रविधि के द्वारा उपलब्ध की जाने वाली विभूतियाँ योग की अपेक्षा कहीं अधिक सुगम और चिरस्थायिनी हैं।

---

१. इस ग्रन्थ का संशोधन, सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद हमने किया है जो कि प्रकाशनाधीन है।
— (लेखक)

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

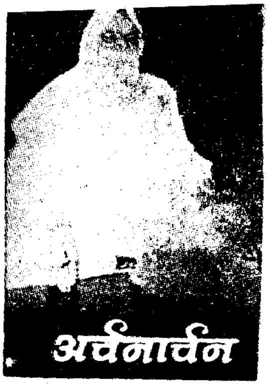

तन्त्रयोग और चक्र-विज्ञान

'मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा' नामक छह चक्रों के विवरण के साथ ही सहस्रार-चक्र का वर्णन योगग्रन्थों में प्राप्त होता है किन्तु तान्त्रिक आचार्य इस दिशा में नई खोज करते हुए बहुत आगे बढ़े हुए प्रतीत होते हैं। चक्राराधना की दैनिक प्रक्रिया में मूलाधार से नीचे भी १. अकुल सहस्रार और २. विषुवत् चक्रों का विधान है। मूलाधारादि छह चक्रों में १. स्वाधिष्ठान, २. मणिपूर, ३. अनाहत और ४. विशुद्ध चक्र अधोमुख भी है साथ ही पूर्वादि दो-दो दिशाओं के योग से बने हुए अग्नि-वायु-ईशान-नैर्ऋत्य कोणात्मक चार चक्रों का चिन्तन विधान भी तन्त्रों में दिखलाया गया है। श्रीविद्या के दक्षिणामूर्ति मत में एक 'स्वस्तिक-चक्र' और माना जाता है जिसका स्थान मणिपूर और अनाहत के बीच ठीक (ह्याकुला STERNUM) के पीछे होता है। इसका आकार स्वस्तिक के समान है और यह श्वेतवर्णी है। चित्तरूप हरिहर का इसमें मनन होता है तथा इसमें आठ दल हैं जिनमें "अं कं चं टं तं पं यं शं" ये आठ अक्षर अंकित रहते हैं। 'प्राणतोषिणी' तन्त्र में एक चौंसठ दलवाले 'ललनाचक्र' की तालु में स्थिति मानी है। इस चक्र से पूर्व 'लम्बिका चक्र' है जो कि विशुद्ध और आज्ञा के मध्य माना गया है। आज्ञा के ऊपर 'गुरुचक्र' शतदल की स्थिति, ब्रह्मरन्ध्र में तथा किसी-किसी ने 'सोमचक्र, मानसचक्र और ललाटचक्र' का भी वर्णन किया है। यह 'कालीकल्प' के अनुसार 'द्वादशाचक्र' का सूचक है।

आज्ञाचक्र को 'कालीकल्प और सुन्दरीकल्प' दोनों में विभक्त मानकर योगतन्त्रानुसार आज्ञाचक्र से एक-एक अंगुल ऊपर के भागों में सप्तकोश नामक 'मनश्चक्र' और '१- बिन्दु, २- अर्धचन्द्र, ३- रोधिनी, ४- नाद, ५- नादान्त, ६- शक्ति, ७- व्यापिका, ८- समना, ९- उन्मनी तथा १०- महाबिन्दु' की भी कल्पना की गई है। 'यतिदण्डैश्वर्य-विधान' में यह चक्र-क्रम १०८ तक पहुँचता है। यथा—

अष्टोत्तर-शते चक्रे मन्त्र-पिण्डाक्षरात्मके।
द्विशतात्मा पुनः प्रोक्त उदयः सर्वसिद्धियः॥ इत्यादि॥

तान्त्रिक योग और सिद्धियाँ

सिद्धियों का वर्णन योगशास्त्र में वर्णित है जिनकी प्राप्ति को लक्ष्य में बाधक बतलाकर महामुनि पतञ्जलि ने उनसे बचने का भी सङ्केत कर दिया है। किन्तु उन सिद्धियों को यदि अकल्पित रूप में प्राप्त किया जाता है तो वे बाधक न होकर साधक ही बनती हैं। इस दृष्टि से सिद्धि के दो प्रकार माने गये हैं—१. अकल्पितसिद्धि और २. कल्पितसिद्धि। इनमें प्रथम अकल्पित सिद्धि के लिए तन्त्रोक्त-योग की नितान्त आवश्यकता होती है। इसके लिए कहा गया है कि—

मन्त्राणां जपतो योगाद् धारणा-ध्यानतस्तथा।
न्यासात् सम्पूजनाच्चैव सिद्धयन्ति सिद्धयस्तु याः॥

अकल्पितास्ताः सम्प्रोक्ताश्चिरकाल-सुखप्रदाः।
प्रान्ते ब्रह्मपद-प्राप्तावपि साहाय्यकारिकाः॥३।९-१०॥ य. द. वि

मन्त्रजप, योग, धारणा, ध्यान, न्यास एवं पूजन से प्राप्त ऐसी अकल्पित सिद्धि ब्रह्मपद-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्ति में भी सहायक होती है, जबकि रस, औषधि तथा क्रियासमूहों के अभ्यास और साधनों से प्राप्त कल्पितसिद्धि क्षणस्थायी एवं स्वल्पसुखावह कही गई हैं।

आध्यात्मिक एवं साधना-सम्बन्धी रहस्यों का उद्घाटन केवल योग से सम्भव नहीं होता है, यह बात बहुत प्राचीनकाल में ही आचार्यों ने जान ली थी। यही कारण था कि लोक-कल्याण के तन्त्रमार्ग का प्रवर्तन हुआ। योग के द्वारा निर्दिष्ट छह चक्रों के वैशिष्ट्य को परिलक्षित करते हुए उनके ऊर्ध्वमुख और अधोमुख होने का दिग्दर्शन कराते हुए यह भी स्पष्ट किया कि अभ्युदय के लिए अधोमुख-चक्रों की साधना और निःश्रेयस के लिए ऊर्ध्वमुख चक्रों की साधना करनी चाहिए। इतना ही नहीं, अधोमुखचक्रों में से किसका ध्यान ऊर्ध्वमुख रूप में किया जाना चाहिये और क्यों, यह भी निर्देश किया है। चक्रों की उपासना में जप और ध्यान दोनों ही मान्य हैं किन्तु जिज्ञासापूर्ति, आकर्षणशक्ति, बुद्धिविकास, ज्ञान-विज्ञानोपलब्धि, सिद्धि तथा अपने इष्टदेव की—स्वरूप, ऐश्वर्य, वैभव एवं सामर्थ्यमूलक विभूतियों का यथार्थरूप में अनुभव कर साधक किस प्रकार दिव्यता को पा सकता है, यह तान्त्रिक योग पर ही निर्भर है।

जपयोग, मन्त्रयोग और तन्त्र

तान्त्रिक-योग में मन्त्र और उसके जप का विधान एक विशिष्ट स्थान रखता है। जप में केवल मन्त्रवर्णों का स्मरण ही पर्याप्त नहीं माना जाता है, अपितु प्रत्येक मन्त्र के वर्णों की मात्रा, काल, वर्ण, शारीरचक्रस्थिति, स्थानरूप आकार, उनका उत्पत्तिस्थान-कण्ठ-ताल्वादिगत और आन्तर तथा बाह्य यत्नों का ज्ञान भी अपेक्षित है। मन्त्रान्तर्गत कूटों के व्यष्टि तथा समष्टिगत भेदों की भावना तथा पुट, धाम, तत्त्व, पीठ, अन्वय, लिंग और मातृका-रूप का चिन्तन भी आवश्यक माना गया है। मन्त्रवर्णों के सृष्टि, स्थिति और संहार रूप कर्म, तत्तत् कर्मों के शक्तियुक्त अधिपति एवं प्रत्येक वर्ण के स्वरूप का चिन्तन भी किया जाता है तथा पाँच अवस्था, षट् शून्य, सप्त विषुव और नव चक्रों की भावना के साथ अपने मनोरथों का स्मरण करते हुए जो मन्त्रवर्णों का उच्चारण किया जाता है, उसे 'जप' कहा जाता है।

इसे 'जपयोग' अथवा 'मन्त्रयोग' के नाम से व्यक्त करते हुए आचार्यों ने योग की प्रक्रिया को अत्यन्त रहस्यमय रूप प्रदान किया है। इस साधना-क्रम में प्रविष्ट साधक का जप-विधान अत्यन्त उत्कृष्ट बन जाता है और वह सिद्धि के इतने निकट पहुँच जाता है कि वहाँ संशय को कोई स्थान ही नहीं रहता। 'वरिवस्थारहस्य' कार श्री भास्करराय मखी ने इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

मन्त्रयोग की विशेषता यह है कि इसमें शारीरिक-चक्रों को उद्बुद्ध करने के लिये यौगिक क्रिया के साथ ही प्रत्येक चक्र अथवा स्थान विशेष के मन्त्रों का जप भी आवश्यक होता है। मुख्यरूप से ऐसा जप करने के लिये बीज-मन्त्रों का ही प्रयोग किया जाता है, साथ ही फल की अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए आम्नाय एवं चक्रस्थान-विशेष का अनुसंधान करना भी तन्त्रशास्त्रों में निर्दिष्ट है। वैसे तो प्रत्येक स्वर और व्यंजन अपने आप में बीजमन्त्र ही हैं किन्तु परस्पर मातृका वर्णों का संयोजन करके उनके साथ शक्ति अथवा देव-भैरव के स्वरबीजों

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का समीकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। ऐसे बीजाक्षरों को संयुक्त करके ही पिण्डाक्षर एवं कूटाक्षर बनाये जाते हैं और उन्हें यन्त्र-पद्धति से अंकित करके उपासना की जाती है।

कूटमन्त्रों का उद्धार करने के लिये तत्वात्मक बीजों के उद्भव को भी जान लेना आवश्यक होता है। जैसे 'लँ' पृथ्वी का बीज है। पञ्चीकृत पृथ्वीतत्त्व कहने से इस लँ बीज ही बोध होता है। हलन्त 'ल्' भी पृथ्व्यात्मक है परन्तु यह बीज अपञ्चीकृत पृथ्वीतत्त्व का वाचक है। अन्य बीज भी ऐसे हलन्त रूपों में अपञ्चीकृत तत्त्वात्मक ही होते हैं। हलन्त मकार 'म्' में अपञ्चीकृत तत्त्वात्मक बीज का योग करने से वह सार्थक बनता है। इसीलिये समस्त बीजों में अनुस्वार-संयोजन का प्रचलन है। 'ई' और 'ऊ' इन दो अक्षरों को बीज कहने पर ऊ से व्यापकत्व का बोध होता है और 'ई' कहने से व्यापकसत्ता का बोध होता है। इस प्रकार 'ऊ' आकाश बीज व्यापकत्व वाचक है और 'ई' मायावाचक व्यापकसत्ता का वाचक है। अतः जब कमलदल पर शक्ति का समष्टिरूप अंकुरित होता है, तो उस अवस्था में जिस दैवीशक्ति के मन्त्र का प्रादुर्भाव होता है, उसके नाम का आदि अक्षर प्रारम्भ में और तत्पश्चात् अर्थ-परक मकार, फिर पृथ्वी आदि चार तत्त्वों का अपंचीकृत रूप और तब आकाशतत्त्वात्मक 'ऊ' कार रूप संयुक्त होकर कूटाक्षर मन्त्र का निर्माण होता है। समस्त डाकिनी, राकिनी, लाकिनी आदि चक्राधिष्ठात्री शक्तियों के बीजाक्षरों की उत्पत्ति इसी प्रकार होती है।

मुख्यतः छह चक्रों की शक्तियों के आद्याक्षर 'ड-र-ल-क-स-ह' हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक दल में स्थित वर्णों की शक्तियों के नामों से भी आद्याक्षर लेकर उनके बीजाक्षर लिये जाते हैं। सम्पूर्ण मातृका-वर्णों के जब कूटाक्षर बनाये जाते हैं, तो उनमें 'मलवरयऊं' ये छह अक्षर और जोड़ दिये जाते हैं। यथा उमलवरयूं, रमलवरयूं, लमलवरयूं आदि।

वस्तुतः बीजमन्त्रों का सिद्धान्त अत्यन्त यान्त्रिक है। जिस अक्षर का उच्चारण होता है चाहे वह वैखरी, मध्यमा या पश्यन्ती आदि किसी भी रूप में हो और वाचक, उपांशु अथवा मानसिक विधि से किया गया हो उसके द्वारा नाड़ी के तत्सम्बन्धित पुंजरूपी कल्पित चक्र के दल पर श्वास का विशेष धक्का लगता ही है जिससे उस दल में उसी अक्षर की भावना होती है। वर्णमाला के कौन-कौन से अक्षर किस-किस चक्र के दलों पर अंकित माने गये हैं अर्थात् उनकी उत्पत्तिभूमि कहाँ पर है, इसके लिये चक्रों का ज्ञान आवश्यक है। यह सब विषय तान्त्रिकयोग की परिधि में ही वर्णित है अतः इस योग की सूक्ष्मता से परिशीलन होना चाहिये।

—निदेशक
व्रजमोहन बिड़ला शोध-केन्द्र
उज्जैन (मध्यप्रदेश)

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org